दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

वर्ष : १
अंक : ८

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील

माघ
२४७२

★

आत्मा स्वयं कर्ता है

आत्मा अपने ही भावों का ग्रहण करनेवाला या छोड़नेवाला है। जड़ कर्म को आत्मा न तो ग्रहण करता है और न छोड़ता है। जड़ कर्म की अवस्था जड़ के कारण होती हैं; क्योंकि प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है और प्रत्येक वस्तु के गुण-पर्याय दूसरी वस्तु से भिन्न है, इसलिये जड़ की समस्त अवस्थाओं का कर्ता जड़ वस्तु और आत्मा की अवस्थाओं का कर्ता स्वयं आत्मा ही है।

× × × ×

तू अपनी भूल से लुटा है, न कि कर्मों ने तुझे लूटा है! तू ही (अज्ञान भाव से) अशुद्ध भाव को उत्पन्न करके अपने स्वरूप के खजाने को लुटा देने वाला है और उस अशुद्ध भाव को दूर करके निर्मल स्वरूप को प्रगट करने वाला भी तू ही है। कर्म तेरा कुछ नहीं कर सकते। निश्चय से तू लुटा ही नहीं है; तू शुद्ध ही है। स्वरूप में प्रवृत्ति और परद्रव्य से निवृत्ति, यह आत्मा का स्वभाव है।

- परम पूज्य श्री कानजी स्वामी

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिक पत्र

एक अंक
पाँच आना

★ आत्मधर्म कार्यालय (सुवर्णपुरी) सोनगढ़ काठियावाड ★

ज्ञानाभ्यास की आवश्यकता

ज्ञानपरिणाम से रहित पुरुष अपने चित्त (संकल्प-विकल्प) का निग्रह करने के लिये समर्थ नहीं होता। ज्ञान, मन को जीतने में उत्तम साधन है, उसके बिना मन अन्य उपाय से नहीं जीता जा सकता। जैसे मत्त हाथी को अंकुश वश में कर लेता है, वैसे उन्मत्त हुए चित्तरूपी हाथी को वश में करने के लिये ज्ञान अंकुश के समान हैं। ज्ञान से ही मन जीता जाता है। उसके चार दृष्टान्त यहाँ दिये जाते हैं।

ज्ञान की और पूर्ण उपयोग लगाने में यह संकल्परूपी पिशाच, पुरुष के आधीन हो जाता है। वह संकल्प पिशाच की भाँति अयोग्य कार्य करता है, परन्तु पुरुष ज्ञानोपयोग से उस संकल्प का नाशकर शुद्ध परिणामों में प्रवृत्त हो सकता है। इसलिये हे शिष्य! ज्ञानाराधना करके तू शुद्ध परिणामों में तत्पर हो।

जैसे योग्य विधिपूर्वक सिद्ध किया गया मंत्र प्रयोग, कृष्ण सर्प को वश में कर लेता है; उसी प्रकार यह संकल्परूपी कृष्ण सर्प भी भलीभाँति प्रयुक्त ज्ञान परिणाम के द्वारा वश किया जा सकता है।

जैसे जंगल में स्वच्छन्दतापूर्वक भ्रमण करता हुआ मत्त हाथी, मजबूत सांकल से बाँधा जा सकता है; उसी प्रकार यह मनरूपी हाथी, ज्ञानरूपी सांकल से बाँधा जा सकता है।

बन्दर एक क्षण भर के लिये भी एक स्थान में स्थिर अर्थात् निर्विकार नहीं रह सकता; उसी प्रकार मन भी विषयों के बिना स्थिर नहीं रह सकता; वह सदा विषयों में विचरता रहता है, अर्थात् वह सदा शब्द, रस, स्पर्श इत्यादि विषयों को निमित्त बनाके राग-द्वेष युक्त होता ही रहता है। सतत् ज्ञानाभ्यास न होने से उसकी सतत् राग-द्वेष में परिणति हो रही है। किन्तु ज्ञानाभ्यास करने से मध्यस्थ भाव उत्पन्न होता है।

मनोमर्कट को वश में करने का उपाय-ज्ञान — इस मनोमर्कट को दिन-रात जिनागम के अभ्यास में तत्पर करना चाहिये; जिससे वह राग-द्वेषादि विकार को छोड़ सके। मनोमर्कट को वश में करने के लिये सदा ज्ञानाभ्यास की आवश्यकता है।

ज्ञानाभ्यास के बिना तत्त्व नहीं जाना जा सकता — विशुद्ध परिणामयुक्त जीव के हृदय में जो ज्ञानरूपी दीपक सतत् प्रकाशमान रहता है, उसे जिनेन्द्रोक्त आगम में नष्ट होने का भय नहीं रहेगा। जीवादिक पदार्थों को जैन शास्त्रों में जो नयाधार से अनेक अपेक्षाओं को लेकर स्वरूप वर्णन किया है, उसका सतत् ज्ञानाभ्यास करने से विशेष स्पष्टीकरण होगा। किन्तु जिसे ज्ञानाभ्यास नहीं है, उसे जिनागम का रहस्य ज्ञात नहीं हो सकेगा।

मुद्रक—चुनीलाल माणेकचंद रवाणी, शिष्ट साहित्य मुद्रणालय, दासकुंज, मोटा आंकडिया, काठियावाड़; ता. ३-१-४६
प्रकाशक—जमनादास माणेकचंद रवाणी, आत्मधर्म कार्यालय, सुवर्णपुरी-सोनगढ़-काठियावाड़

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिक पत्र

वर्ष : १
अंक : ८

: : आत्मधर्म : :

माघ
२४७२

ज्ञान उत्कृष्ट प्रकाश है — जो ज्ञानरूपी प्रकाश है, वह उत्कृष्ट प्रकाश है। उसमें यह विशेषता है कि वह किसी के द्वारा नष्ट नहीं किया जा सकता। हवा इत्यादि पदार्थ, दीपक का नाश कर देता है किन्तु ज्ञान दीपक को नष्ट करनेवाला कोई भी पदार्थ विश्व में नहीं है। यद्यपि सूर्य का प्रकाश अत्यन्त प्रखर होता है, फिर भी वह अल्पक्षेत्र को ही प्रकाशित करता है, किन्तु यह ज्ञान प्रदीप समस्त जगत को प्रकाशित करता है। जगत में ज्ञान समान दूसरा कोई प्रकाश नहीं है।

बिना ज्ञान के चारित्र-तप की इच्छा व्यर्थ है — जो ज्ञानरूपी दीपक के बिना मोक्ष के उपायभूत चारित्र और तप की प्राप्ति करने की इच्छा करता है, उसे उस अंध मनुष्य की भाँति समझना चाहिये जो घोर अंधकार में वृथा तृषादि से व्याप्त दुर्गम प्रदेश में प्रवेश करने का असफल प्रयत्न कर रहा है। जैसे जीवों से भरे हुये प्रदेश में हिंसादि का निवारण शक्य नहीं है, उसी प्रकार ज्ञान के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं की जा सकती।

❖ ❖ ❖

प्रश्नोत्तर

प्रश्न—संसार में किसका राज्य चल रहा है?

उत्तर—अपने स्वरूप के भ्रम का।

प्रश्न—संसार में बहुमति किसकी है?

उत्तर—स्वरूप के भ्रमवाले जीवों की।

प्रश्न—उस भ्रम में अगुआ कौन है?

उत्तर—द्रव्यलिंगी मुनि; उसे संसार तत्त्व कहा जाता है।

प्रश्न—द्रव्यलिंगी क्या परजीव की हिंसा करता है?

उत्तर—बिल्कुल नहीं; वह छह काय के जीवों की दया पालता है, और निरतिचार अहिंसा व्रत का पालन करता है।

प्रश्न—द्रव्यलिंगी मुनि क्या असत्य बोलता है ? चोरी करता है ? मैथुन सेवन करता है ? और परिग्रह रखता है ?

उत्तर—बिल्कुल नहीं; वह सभी व्रतों का निरतिचार पालन करता है।

प्रश्न—इतना करने पर भी धर्म क्यों नहीं होता ?

उत्तर—यह तो स्पष्ट ही है कि स्वरूप का भ्रम होने से धर्म नहीं हो सकता।

प्रश्न—तब क्या वह जीवदया का पालन नहीं करे, असत्य बोले, चोरी करे, अब्रह्मचर्य का सेवन करे और खूब परिग्रह रखे तो धर्म होगा ?

उत्तर—आपका प्रश्न अधैर्य और टेढ़ेपन (विपरीतता) का द्योतक है। आपने जो कहा, वह तो सब स्पष्ट पाप है ही; उससे धर्म हो ही नहीं सकता, यह आर्यावर्त्त के सभी आबाल-वृद्ध जानते हैं।

प्रश्न—तो फिर धर्म कब होता है ?

उत्तर—आत्मस्वरूप की यथार्थता को पहचानना और भ्रम को दूर करना, सो धर्म का प्रारम्भ है; उस स्वरूप में स्थिर रहना, सो साधकदशा है, और सम्पूर्ण स्थिरता होना, सो धर्म की पूर्णता है।

प्रश्न—द्रव्यलिंगी मुनि भव्य होता है या अभव्य ?

उत्तर—भव्य भी होता है और अभव्य भी।

प्रश्न—क्या कभी यह जीव पहले द्रव्यलिंगी मुनि हुआ होगा ?

उत्तर—हाँ, अनन्तबार।

प्रश्न—द्रव्यलिंगी मुनि को संसार तत्त्व कहा जाता है, क्या इसका कोई प्रमाण है ?

उत्तर—हाँ, श्री प्रवचनसार में पृष्ठ ३६२ पर इस प्रकार कहा है—अब इन ५ में से प्रथम ही संसारतत्त्व को कहते हैं—

ये अयथागृहीतार्था एते तत्त्वमिति निश्चिताः समये।
अत्यन्तफल समृद्धं भ्रमन्ति ते अतः परं कालम् ॥७१॥

अर्थ—जो पुरुष, जिनमत में द्रव्यलिंग अवस्था धारण कर तिष्ठतै भी हैं, लेकिन अन्यथा पदार्थों का स्वरूप ग्रहण करते हुये जो पदार्थ हमने जान लिये हैं, ये ही वस्तु का स्वरूप हैं, ऐसा मिथ्यापना मानकर निश्चय कर बैठे हैं। ऐसे वे श्रमणाभासमुनि इस वर्तमान काल से आगे अनन्त भ्रमणरूपी फल से पूर्ण अनन्त काल पर्यन्त भटकते हैं।

भावार्थ—ये अज्ञानी मुनि, मिथ्याबुद्धि से पदार्थ-श्रद्धान नहीं करते हैं, अन्य की अन्य

कल्पना करते हैं और सदा महामोहमल्ल (मिथ्यादर्शन) से चित्त की मलिनता के कारण अविवेकी हैं। यद्यपि द्रव्यलिंग को धारण कर रहे हैं, तो भी परमार्थ मुनिपने को प्राप्त नहीं हुए हैं और जो मुनि के समान मालूम होते हैं, वे अनन्तकाल तक, अनन्त परावर्तन कर भयानक कर्मबल को भोगते हुये भटकते हैं। इसलिये ऐसे श्रमणाभास मुनि को संसारतत्त्व जानना चाहिये; दूसरा कोई संसार नहीं है। जो जीव मिथ्याबुद्धि युक्त हैं, वे ही जीव, संसार हैं।

प्रश्न—बाह्यलिंग से क्या मुनित्व या ज्ञानीपन निश्चित हो सकता है ?

उत्तर—कदापि नहीं हो सकता। यह ऊपर कहा जा चुका है।

❖ ❖ ❖

संसार और मोक्ष निर्माता भावों का विश्लेषण

[श्री समयसार, निर्जरा अधिकार, गाथा 224 से 227 पर
परमपूज्य सद्गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन]

शाश्वत सुख चाहने वाले को कैसा ज्ञान होता है ?

निर्जरा अधिकार चल रहा है अर्थात् सच्चा सुख कैसे मिलता है ? सच्चे सुख का उपाय करनेवाले के ज्ञान और श्रद्धा कैसी होती है ? और जिसे सांसारिक सुख अच्छा लगता है, उसका ज्ञान और मान्यता कैसी होती है ? जिसे संसार का-इंद्रियादि का सुख अच्छा लगता है, उसे चौरासी के दुःख रुचते हैं और जिसे संसार सुख की रुचि नहीं है, किन्तु स्वभाव का वास्तविक सुख अच्छा लगता है, उसकी पहिचान और ज्ञान कैसा होता है ? उसका पहले निर्णय होना चाहिये। क्योंकि किस सुख की रुचि है ? यह जानना चाहिये।

पुण्यभाव की रुचि नहीं होती

हमें संसार का सुख नहीं चाहिये। हम सच्चा सुख पाने के लिये त्यागी हुये हैं, यों बहुत से लोग मान बैठे हैं। किन्तु वास्तव में सच्चे सुख की रुचि है या नहीं—इसका लक्षण पहले समझ लेना होगा। जिन भावों से संसार सुख मिलता है, इन भावों की रुचि भी सच्चा सुख चाहनेवालों के नहीं होती। समस्त राज्यादिक संसार सुख के निमित्त हैं, उसकी भी रुचि नहीं होती, जिसने जड़ में सुख नहीं माना हो, उसकी मान्यता कैसी होगी ? जिस पुण्यभाव से स्वर्गादिक तथा यह स्त्री और रुपया पैसा आदि मिलता है, उस पुण्य भाव की भी रुचि नहीं होती, जिसके पुण्य की रुचि है, उसके संसार की रुचि है।

जड़ में कहीं भी सच्चा सुख नहीं है, अन्यत्र कहीं सुख है तो वह मात्र आत्मा में ही है; इसलिये जिसे सुख की प्रीति है, उसे आत्मा की रुचि भी होना चाहिये। पुद्गल में कहीं भी आत्मा का सुख नहीं है, मात्र विपरीत मान्यता से ही उसमें सुख मान लिया गया है। शरीर, मकान, स्त्री, पैसा इत्यादि में सच्चा सुख नहीं है, आत्मा का सुख पर में हो ही नहीं सकता। फिर भी पर में सुख मान लिया है, यही मान्यता की भूल है। सच्ची बात उसकी समझ में ही न आई। यदि सच्ची बात समझ ली जाय तो संसार की अनुकूलता में भी सुखबुद्धि नहीं हो। जिस कारण से संसार की अनुकूलता प्राप्त होती है, वह पुण्य है। पाप भाव से प्रतिकूलता और पुण्य भाव से अनुकूलता प्राप्त होती है। जिसे संसार की अनुकूलता की रुचि है, उसे पुण्य की रुचि है और जिसे पुण्य की रुचि है, उसे संसार की रुचि है। जिसे आत्मा के ज्ञान और श्रद्धा की रुचि है, उसे आत्मा की रुचि है, और उसी को सच्चे सुख की रुचि है।

पहले पुण्य की रुचि है या आत्मा की, इसे जाने बिना कोई उपाय नहीं होगा। यदि पुण्य भाव की रुचि होगी तो समझना चाहिये कि उसके ज्ञान और श्रद्धा में भूल है। जिसे आत्मा की रुचि होगी, उसे पुण्य की रुचि नहीं होगी।

धर्मी की रुचि, ज्ञान और श्रद्धा कैसे होती है?

अब धर्मी की रुचि, ज्ञान और श्रद्धा कैसी होती है तथा संसार का सुख रुचता है अर्थात् पुण्य की रुचि है, उसकी श्रद्धा और दृष्टि कैसी होती है—यह निम्नलिखित चार गाथाओं द्वारा बताया जाता है—

गुजराती हरीगीत

ज्यम जगतमां को पुरुष वृत्ति निमित्त सेवे भूपने।
तो भूप पण सुख जनक विध विध भोग आपे पुरुषने॥२२४॥
त्यम जीव पुरुष पण कर्म रजनूं सुख अरथ सेवन करे,
तो कर्मपण सुख जनक विध विध भोग आपे जीवने॥२२५॥
वळी तेज नर ज्यम वृत्ति-अरथे भूपने सेवे नहीं
तो भूप पण सुख जनक विध विध भोग ने आपे नहीं॥२२६॥
सुदृष्टिने त्यम विषय अरथे कर्म रज सेवन नथी
तो कर्मपण सुख जनक विध विध भोगने देतां नथी॥२२७॥

दृष्टान्त-इस जगत में कोई पुरुष, आजीविका के लिये राजा की सेवा करता है, उसकी यह दृष्टि रहती है कि जब कोई अच्छा अवसर आयेगा, तब जीमनबार में मिष्ठ भोजन के थाल

मिलेंगे इसलिये वह राजा की सेवा करता है। राजा भी उसे सुखदाई अनेक प्रकार का भोग देता है (किन्तु यहाँ कहने का तात्पर्य यह है कि यह सब ठीक नहीं है)।

इसी प्रकार उस पुरुष की भाँति यदि कोई आत्मा, सुखबुद्धि से पुण्य-पाप का सेवन करता है और यह मानता है कि इससे मुझे सुख मिलेगा तो इसका मतलब यह हुआ कि उसे पौद्गलिक सुख की रुचि है-पुण्य की रुचि है। पुण्य की रुचिवाला त्यागी हो या साधु हो किन्तु 'यह क्रिया रागयुक्त है या राग विहीन; दया आदिक शुभराग की है या हिंसा आदि तीव्र राग की-पाप की है, उस राग की क्रिया से जात्मा को लाभ नहीं हो सकता।'

इस प्रकार जिसे रागरहित आत्मा की श्रद्धा या रुचि नहीं है, वह जो कुछ भी व्रत, तप, दान, भक्ति, पूजा आदि करता है, उसमें मन्दकषाय से जो पुण्य होता है, वह उस पुण्य को संसार-सुख के लिए सेवन करता है। अर्थात् उसके पुण्य की रुचि है। किन्तु पुण्य का फल संसार सुख भोगने का जो भाव है, वह तो पाप ही है। पौद्गलिक जड़ की जो नाशवान-क्षणिकसुख रुचि है अर्थात् पुण्यभाव की जो रुचि है, वह जड़ की रुचि है; पुण्य-पाप सहित आत्मा की रुचि नहीं।

खवास का दृष्टान्त और उसका सिद्धान्त

जैसे खवास राजा की सेवा करता है किन्तु वह उसमें निस्पृह नहीं है किन्तु उसे मिष्ठान्न भोजन की रुचि है, इसलिए वह सेवा करता है। इस प्रकार जिसे पुण्य की रुचि है, उसे पुण्य-पाप रहित ज्ञानमूर्ति आत्मा की रुचि नहीं है क्योंकि पुण्य-पाप की समस्त क्रियाएँ आत्मा के बन्धन हैं। जिसे आत्मा के पवित्र ज्ञानस्वभाव का भान नहीं है, वह उसमें पुण्य का भाव सुख मानकर करता है। जिस भाव से पुण्यबन्ध होता है, यदि उसे कोई अच्छा माने तो समझना चाहिए उसे जड़ की रुचि है, आत्मा की नहीं।

जिसे पुण्य की रुचि है, उसे जड़ की रुचि है

पचास-पचास वर्ष तक खाया-पिया और भोग भोगे किन्तु उनसे सुख नहीं मिला, संसार के भोगों में सुख है ही नहीं; इस प्रकार लोग कहते तो हैं, किन्तु यदि उस जड़ के सुख की रुचि वास्तव में दूर हो गई हो तो जिस भाव से वह संसार सुख की सामग्री मिलती है, उस पुण्यभाव की रुचि भी दूर होनी ही चाहिए और जिस भाव से रुचि दूर होती है, उस भाव का सेवन करना चाहिए। जो लोग 'साधु' या 'धर्मी' ऐसा नाम मात्र रखते हैं किन्तु जिन्हें पुण्य-पाप रहित आत्मा के स्वरूप की खबर नहीं है, उन्हें पुण्य की रुचि रहती है। यहाँ हम यह नहीं कह रहे हैं कि पुण्य करना ही छोड़ दिया जाए, किन्तु पाप से बचने के लिए पुण्य करना ठीक है। फिर भी उसकी

रुचि नहीं होनी चाहिए, क्योंकि जिसे पुण्य की रुचि है, उसे जड़ में सुखबुद्धि मौजूद है अर्थात् उसके जड़ की रुचि है।

जड़ के सुख चाहनेवालों के लक्षण

जिसे पाँच इन्द्रियों के - जड़ के नाशवान सुख रुचते हैं, उसका लक्षण क्या है ?

आत्मा का सुख जड़ में नहीं है, आत्मा में जो शुभराग होता है, वह यदि रुचता है तो समझना चाहिए कि उसे संसार-सुख की, जड़ सुख की रुचि है। फिर भले ही वह त्यागी कहलाता हो या मुनि; और जो ग्रहस्थदशा में रह रहा है फिर भी 'मेरा स्वभाव पुण्य-पाप के विकारी भावों से रहित अविकारी है' इस प्रकार आत्मभान सहित जिसे पुण्य-पाप के भाव की रुचि नहीं है, वहाँ समझना चाहिए कि उसे संसार सुख की - पौद्गलिक सुख की रुचि नहीं है और उसे आत्मा की रुचि है।

खवास राजा की सेवा करता है, उसमें उसे निरन्तर यही रुचि बनी रहती है कि 'राजा कैसे खुश हो' उसके निस्पृह रहने का भाव ही नहीं है, उसकी रुचि ही राजा को खुश करने की है; इसी प्रकार जीव को बाह्य क्रिया करते हुए जो राग का विकल्प उठता है, उसे जो ठीक मानता है, उसे सर्वप्रथम सांसारिक सुख की इच्छा है और यही उसकी रुचि है। जीव जो पुण्य या पाप का रागभाव करता है, उसमें पाप तो दुःख का कारण है ही, उसकी तो यहाँ बात ही नहीं है, उसकी रुचि तो हो ही नहीं सकती किन्तु जो शुभराग की रुचिपूर्वक कर्म रज का सेवन करता है और वे कर्म भी उसे सुख उत्पन्न करनेवाले भोगोपभोग देते हैं अर्थात् राग की क्रिया करते समय जिसे शुभराग की रुचि है, उस शुभराग के फल में भविष्य में उसे अनुकूल सामग्री मिलेगी और उसे राग की रुचि है, इसलिए वह राग रंजित हो कर सामग्रियों को भोगेगा और पाप बन्ध करके नरक में जाएगा।

राग की व्याख्या और उसका फल

ज्ञानमूर्ति आत्मा में कुछ करने कराने का जो भाव है, वह राग है। उसमें से अशुभ राग तो छोड़ने योग्य है ही किन्तु क्रिया के समय जिसने शुभराग को अच्छा माना है, उसे भविष्य में ऐसे पौद्गलिक संयोग मिलेंगे कि वह उन्हें रागपूर्वक भोगकर नरक में जाएगा। इस प्रकार उसके (शुभ-राग की रुचिवाले के) न तो वर्तमान में धर्म है और न भविष्य में। सच्चे सुख के (पुण्य-पाप रहित) उपाय का और पौद्गलिक सुख के उपाय (पुण्य) का विवेक सर्व प्रथम होना आवश्यक है।

सच्चे सुख के इच्छुक के पुण्य की रुचि ही नहीं होनी चाहिए। पुण्य-पाप दोनों राग ही

हैं। जिसके राग करते समय उसकी रुचि है - उसमें सुख बुद्धि है और जो उसमें धर्म मानता है, तथा शुभ कहाँ होता है और धर्म कहाँ होता है—इसकी खबर नहीं है, वह पुण्य में सुख माने बिना नहीं रह सकता। जिस पुरुष के, ज्ञाता-दृष्टा स्वरूप को भूलकर क्रिया के समय होनेवाले शुभराग की रुचि है, उसको भविष्य में नाशवान राज्यादिक प्राप्त करने की रुचि हैं, जिसके पीछे नरकादि अवश्यंभावी है। यहाँ पर पुण्य छोड़देने की बात नहीं है, किन्तु पुण्य की ओर तेरी रुचि नहीं होनी चाहिए। राग के बिना बाह्य क्रिया नहीं हो सकती। यदि अन्तस्वरूप की रुचि को छोड़कर, बाह्यस्वरूप में होनेवाली राग की रुचि की जाएगी तो समझना चाहिए कि उसके पुद्गल की रुचि है।

चापलूसी करनेवाले का दृष्टान्त

जिस प्रकार वही पुरुष (खवास) यदि आजीविका के लिए राजा की सेवा नहीं करता तो राजा भी उसको सुखदाई भोगोपभोग नहीं देता; क्योंकि यदि हाँ में हाँ मिलाए और चापलूसी करे तो राजा प्रसन्न रहे। चापलूसी कैसे की जाती है, यह एक दृष्टान्त द्वारा बतलाते हैं।

एक राज्याधिकारी था, एकबार उसने अपने नौकर से कहा कि जा पाँच तोला घी ले आ। नौकर गया और घी लेकर वापिस आया, तब राज्याधिकारी ने पूछा ''कितना घी लाया ?'' नौकर ने कहा कि 'साहिब एक छटांक'। किन्तु राज्याधिकारी को तो यह भान ही नहीं था कि 5 तोला और एक छटांक एक ही बात है; इसलिए यह क्रोध में आकर बोला कि क्यों रे! मैंने पाँच तोला घी लाने को कहा था लेकिन तू एक छटांक क्यों लाया ? तब पास में ही बैठे हुए एक जी हुजूर-चापलूस ने कहा, - बिल्कुल ठीक है साहिब! इस बेबकूफ ने गलती कर दी। यह सुनकर घी लाने वाला नौकर भी (हाँ में हाँ मिलाने वाले होने के कारण) अपनी भूल न होने पर भी बोला हाँ साहिब! भूल तो हो गई। इस दृष्टान्त से स्पष्ट हो गया कि चापलूस दृष्टि केवल राजा को खुश करने की ही होती है।

सिद्धान्त

इसी प्रकार अज्ञानी, पुण्यक्रिया को करते हुए उसके राग की जो रुचि करता है और उसे ठीक मानता है तो वह रागरहित स्वभाव को नहीं जानता। राग की रुचि से उसे सांसारिक जड़ पदार्थ मिलेंगे और वह रागपूर्वक उनका उपयोग करके नरकादि गाति में चला जाएगा। नौकर चाकर यह नहीं जानते कि निस्पृह होकर रहेंगे तो भी राजा को जितना देना होगा देगा। राजा को खरी सुनानेवाला रुच नहीं सकता और यदि चापलूसी नहीं की जाए तो कुछ मिलेगा नहीं—ऐसा उन्होंने मान रखा है। यहाँ तो आचार्यदेव कहते हैं कि हाँ में हाँ मिलाने वालों को मिष्टान्न थाल

तो मिल जाएँगे किन्तु सच्ची पूँजी नहीं मिलेगी अर्थात् जिसे आत्मा की रुचि छोड़कर शुभराग की रुचि है और जो उसे ठीक मानता है, यदि यह मन्दकषाय करेगा तो पुण्यबन्ध करेगा, किन्तु उसे आत्मा का सच्चा सुख नहीं मिलेगा।

धर्मी के राग रुचि नहीं है

धर्मी को अपनी आत्मा में ही सन्तोष होता है। नौकरी में उसे जो पचास-सौ या जितना भी वेतन मिलता है, वह उतना ही लेता है, वह उससे अधिक प्राप्त करने के लिए कभी भी दगा नहीं करता, उसी प्रकार धर्मीजीव जब जो क्रिया करता है, तब उस समय भी उसे शुभराग की रुचि नहीं होती। वह सुखबुद्धि से कर्मरज का सेवन नहीं करता। कमजोरी के कारण उदासीन भाव से शुभ में प्रयुक्त होता हुआ भी अन्तर में वह उसमें रुचि नहीं रखता।

जिसे आत्मा की खबर नहीं है, उसे राग की रुचि है

कोई यह कहे कि हमको स्वर्गादिक की रुचि नहीं है और हम बिना ही रुचि के पुण्य करते हैं तो जिसे आत्मा की निस्पृहता की खबर नहीं है—रुचि नहीं है, उसके राग की रुचि अवश्य ही होती है और जिसे राग की रुचि नहीं है, उसे आत्मा के ज्ञानभाव की रुचि है अर्थात् उसके शुभराग का फल ऐसा नहीं हो सकता कि जिसको भोगने पर फिर से नया बन्धन हो।

टीका - जैसे कोई आदमी फल के लिए राजा की जितनी चापलूसी करके उसे प्रसन्न करता है, राजा उसको उतना ही फल देता है; उसी प्रकार जो जीव, शुभक्रिया को अपनी मानता है, उसके राग की रुचि का ही परिणाम समझना चाहिए। ज्ञानी के अन्तर में यह भान है कि मैं शुद्ध में नहि रह सकता, इसलिए यह शुभ (अशुभ से बचने के लिए) करना पड़ता है और यदि कोई बिना समझे ही त्यागी हो जाए, घरबार छोड़कर जंगल में चला जाए तो भी उसके भीतर पुण्य की पकड़ है अर्थात् संसार सुख की रुचि है। जिसके अन्तर में ज्ञाता-दृष्टा, पूर्ण निर्मल, स्वत:स्वभावी आत्मा की रुचि नहीं है तथा जिसे राग के पृथकत्व की खबर नहीं है, वह भले त्यागी हो या धर्मी नामधारी हो, किन्तु वह कर्म को (राग को) अपना मानकर उससे फल की रुचि किये बिना नहीं रहेगा।

जिसके आहारादि की रुचि है - पर में सुखबुद्धि है, उसके लिए एक जगह कहा है कि-

'मुंह मंगलिये उदराणु गीद्धे' अर्थात् चापलूस को 'मुख मंगलिया' कहा है और उसे पेट के लिए गृद्धिबाला अर्थात् अच्छे आहारादि के लिए हाँ में हाँ मिलानेवाला कहा है। बाप ने छल-कपट करके धन इकट्ठा किया हो और उसका लड़का छल-कपट करने में सवाया निकले तो वह कहता है कि लड़का बहुत होशियार है और यदि वह लड़का स्पष्ट कह दे कि पिताजी! मेरे पास

दगाबाजी की बात मत करना, दगा प्रपंच करना हराम है तो वह उससे कहेगा कि मूर्खराज! हमारे कुल का दीपक बन अर्थात् हमसे भी सवाया पाप कर। इसमें जो लड़का दगा प्रपंच की हाँ में हाँ मिलाता है, वह केवल राग के कारण करता है, नहीं तो वह स्पष्ट इनकार कर दे कि इस राग के लिए इतना दगा-प्रपंच! इस देह से कितने समय तक जीना है? और हम कहाँ जाएँगे? यदि पुण्य होगा तो आवश्यक वस्तुएँ जहाँ चाहे से मिल जाएँगी, आयु होगी तो रोटियाँ चाहे जहाँ से मिल जाएँगी और यदि आयु नहीं होगी तो रोटियाँ खाते-खाते भी यदि भूख से अधिक खा लिया गया और पेट फूल गया तो मर जाएँगे। मैं तो नीतिपूर्वक ही काम करूँगा। अरे! राग के लिए इतनी अनीति! नहीं भाई! नहीं, मैं अनीति नही कर सकता। यों कह देने से उसका अधिकार नहीं चला जाता।

धर्मी का स्वरूप

धर्मी जीव, राग के लिए - फल की भावना से पुण्य का सेवन नहीं करता। वह जानता है कि शुभभाव के द्वारा आत्मा की शान्ति नहीं होती; इसी समझ से वह पुण्य भाव को अपना समझाकर या रुचिपूर्वक नहीं करता।

संसार सुख की रुचि नहीं है, यों कह देने से वह रुचि दूर नहीं हो जाती -

जिसके सच्चे सुख की रुचि है, उसके संसार की सुख की रुचि अवश्य दूर हो जाएगी। यदि कोई मात्र यह कहा करे कि हमें संसार की रुचि नहीं है और वह यों कहकर रुचिपूर्वक राग किया करे तो वास्तव में उसके सच्चे सुख की रुचि उत्पन्न ही नहीं हुई। छप्पन के अकाल के समय रंक भिखारी गाँव के बहार जाकर पानी में मछलियों को मारते हों और वे ही गाँव में आकर अपने कपाल पर साधुओं जैसा तिलक करें और कहें कि 'यह संसार असार है, यहाँ कोई किसी का नहीं है' यदि वे ऐसा न कहें तो उन्हें कोई कुछ दे नहीं, इसलिए वे अपने को कुछ प्राप्त हो जाए, इसी राग के कारण वे ऐसा कहते हैं।

उसी प्रकार कोई कहे कि हमें सच्चे सुख की रुचि जागृत हुई है तो पहले पुण्य-पाप का राग आत्मा का नहीं है, इस प्रकार राग रहित आत्मा की पहिचान उसने की है? सुखस्वरूप आत्मा की पहचान किये बिना कभी भी सुख नहीं मिलेगा और पुण्य-पाप की रुचि नहीं दूर होगी; और जिसके रुचि बदल गई कि वह विकारमात्र मेरा स्वरूप नहीं है, रागरहित ज्ञान स्वभाव ही मैं हूँ, इस प्रकार जहाँ स्वभाव की रुचि हो गई और पुण्य की रुचि दूर हो गई, वहाँ वह राज-पाट का उपभोग करता हुआ भले दिखाई दे, किन्तु अन्तर में उस ओर उसे रुचि नहीं है।

भविष्य में अल्पकाल में ही वह त्यागी होकर, मुनि होकर पूर्ण केवलज्ञान प्राप्त कर लेगा

और जिसके पुण्य की रुचि है, वह यदि यह मान बैठे कि बाह्य आचरण करते हुए अन्तरस्वभाव प्रगट होगा, इस मान्यता में सांसारिक सुख की रुचि अर्थात् विषाक्त रुचि मौजूद विद्यमान है। आत्मा का ज्ञानस्वभाव का भान हुए बिना पौद्गलिक सुख का स्वाद कभी भी दूर नहीं हो सकता।

सत्य त्याग का स्वरूप

भीतर ज्ञाता स्वरूप आत्मा की रुद्धि को जाने बिना जो त्याग है, वह दु:खगर्भित और मोहगर्भित है। वह ज्ञान के विवेकभाव से नहीं किन्तु द्वेष-भाव से है। सच्चे सुखस्वभाव का भान हुए बिना वास्तविक त्याग और वैराग्य नहीं हो सकता।

त्याग कब कहलाता है? जब कि यह भान हो जाए कि मैं ज्ञानमूर्ति, निर्मल चैतन्यघन आनन्दस्वरूप हूँ। मेरा सुख मुझमें ही है, इसी दृष्टि बल से राग दूर किया जाए और राग को दूर करते हुए राग के निमित्त भी सहज में दूर हो जाए, वही त्याग ज्ञानगर्भित है और वही सत्य त्याग है और जिसे आत्मा का भान नहीं है, वह तो इसी द्वेषभाव से त्याग करता है कि इस स्त्री, पुत्र आदि में सुख नहीं है। इसलिए अब इन्हें छोड़ दूँ। सचमुच वह त्यागी नहीं है किन्तु उसके अन्तर में भोग की रुचि विद्यमान है।

आत्मा का भान हुए बिना निर्विकारी क्रिया किसे कहा जाए और राग की विकारी क्रिया किसे कहा जाए—इसकी पहचान नहीं हो सकती और उस पहचान के बिना पुण्य-पाप या आत्मा का विवेक नहीं हो सकता। चक्रवर्ती राजा को राज्य संचालन करते हुए भी विवेक का भान था। उन्हें इसकी पहचान थी कि मैं निर्मल ज्ञानस्वरूप निर्विकल्प हूँ, फिर भी पुरुषार्थ की अशक्ति के कारण उनके शुभ-अशुभ राग मौजूद था, किन्तु अन्तरङ्ग से उनकी रुचि राजपाट से हटकर आत्मा में लग गई थी, उस आत्मा की रुचि के बल पर वे एकावतारी हो गये थे। इस प्रकार और भी अनन्त एकावतारी हो गये हैं। तात्पर्य यह है कि अविकारी स्वभाव की भावना के साथ जिसके राग-द्वेष का त्याग है, वही सच्चा त्यागी है। अज्ञानी जीव बाहर का त्यागी (द्वेषभाव से) भले ही हो जाए किन्तु वह भीतर से विकार का भोक्ता है, उसे अनन्त संसार में परिभ्रमण करना होगा।

मैं चैतन्य, शुद्ध, आनन्दघन, निजानन्द प्रभु हूँ - प्रत्येक आत्मा प्रभु है—ऐसे भानसहित सम्यक्दृष्टि राजपाट में रहता है और फिर भी उसके अन्तर में रुचि नहीं है। उसके अन्तरस्वभाव की रुचि में पुण्य की रुचि नहीं है, इसीलिए वह कर्म उसे फल नहीं देता।

भावार्थ - अज्ञानी के राग की रुचि है। अज्ञान रञ्जित परिणाम में डूबा हुआ प्राणी उदयागत कर्म को रञ्जित होकर सेवन करता है, इसलिए वह कर्म भी उसे रञ्जित फल देता है। ज्ञानी उदयागत कर्म को रञ्जित होकर नहीं भोगता, इसलिए राग का रङ्ग अन्तर में नहीं चढ़ पाता। अज्ञानी तो राग में लीन हो जाता है, उसे राग की रुचि में आत्मा की बात नहीं रुचती।

सच्ची समझ की आवश्यकता

प्रत्येक जीव स्वयं तो भगवानस्वरूप है किन्तु अपनी मान्यता में अनादि से जो भूल चली आ रही है, उसे दूर करने में परिश्रम करना होता है (अर्थात् उसके लिए अनन्त सच्चा पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है) सच तो यह है कि अनादि काल से सच्चा ज्ञान ही नहीं हुआ। यदि सच्ची समझ जा आए तो राग में जो रञ्जितपना है, वह दूर हुए बिना नहीं रहे। अज्ञानी, शुभभाव में धर्म मानता है, इसलिए उसे मात्र राग की रुचि है; इसलिए राग की रुचि के कारण उसे संसार ही फलित होगा। यदि सच्ची समझ आ जाए तो वह विवेक भी आ जाए कि सच्चा सुख क्या है? और उसक उपाय क्या है? दान देने से पहले यह देखना चाहिए कि वह दान, प्रतिष्ठा और कीर्ति के लिए दिया है या नहीं? यदि यह प्रतिष्ठा और कीर्ति के लिए नहीं दिया है तो यह देख कि तुझे दान के शुभभाव की रुचि तो नहीं है? यदि तू शुभराग के रङ्ग में रँगा जाता है तो उस राग की रुचि तुझे बन्धन करता है और उस राग की रुचि छोड़ दे, तब ही सच्चा त्यागभाव कहलाएगा। वह त्याग ही मुक्ति का कारण है।

जिसको स्वभाव का भान होता है, उसी को अन्तर का सच्चा त्याग सूझता है, किन्तु जिसे अन्तरस्वभाव का भान नहीं है, उसकी दृष्टि बाह्य त्याग पर रहती है। अर्थात् वर्तमान में कदाचित् भोग छोड़ने की बात भले ही बने, किन्तु उसके ही भीतर-भीतर तो ऐसी राग की भोग की रुचि है कि 'भविष्य में इस त्याग से और अधिक अच्छे भोग मिलेंगे' वह वास्तव में सच्चा त्यागी नहीं है। वह यह मानता है कि स्त्री, पुत्र, मकान बन्धनकर्ता है, इसलिए मैं उनका त्याग कर दूँ, किन्तु वह यह नहीं जानता कि उनकी ओर का अपना राग ही बन्धन करता है। यदि सचमुच ही त्याग की वास्तविक भावना हो तो उनकी ओर का राग ही क्यों नहीं छोड़ देता? त्याग का अर्थ यह है कि जो अपने स्वभाव में नहीं है, उसे छोड़ दिया जाए। पुण्य-पाप का कोई भी विकार मेरे स्वभाव में नहीं है—ऐसा भान हुए बिना पुण्य-पाप का त्याग वास्तव में भीतर से नहीं आएगा और अन्तर के त्याग के बिना बाह्य त्यागी भी सच्चा नहीं है।

यहाँ तो न्याय और सत्य की ही बात है, ज्ञान से उसका विवेक करो। अज्ञानी, व्रत-तप करता है, वह भी आगामी भोग की आकांक्षा से करता है। वर्तमान में जो बाह्य त्याग करता है, उसमें भी उसका आशय अनन्त गुणा भोग प्राप्त करने का होता है। जिसे वर्तमान में ही स्वाभाविक सुख से भरे हुए आत्मा की खबर नहीं है, वह राग की रुचि में अवश्य रङ्ग जाएगा और जो ज्ञानी है, जिसे स्वभाव की खबर है, उसके जब तक वीतरागता नहीं हो जाती, तब तक शुभ का विकल्प होने पर भी उसकी रुचि नहीं होती; इसलिए उदयागत भोग उसके लिए बन्धन का कारण नहीं है और भविष्य में उसे उसका विशेष फल नहीं मिलेगा। ❖ ❖ ❖

धर्म संवाद : २

लेखक : रामजीभाई माणेकचंद दोशी

कर्मचंद—हमने पहले सम्यक् तप के संबंध में चर्चा की थी, उसमें निम्नलिखित विषयों का समावेश हुआ था—

(१) अपनी शक्ति होने पर भी हम आहारादि का त्याग करते हैं तो वह अपने वश छोड़ा हुआ कहलायेगा या नहीं?

(२) 'अस्ति' और 'नास्ति' का स्वरूप समझे बिना जीव का यथार्थ स्वरूप नहीं समझा जा सकता।

(३) सम्यग्दृष्टि के ही यथार्थ तप होता है।

(४) जब तत्त्व की बात का प्रतिपादन किया जाता है, तब उसका सभी पहलुओं से विचार करके निर्णय किया जाय, तभी धर्म का यथार्थ स्वरूप समझा जा सकता है।

(५) निमित्त नैमित्तिक संबंध को समझना चाहिये।

(६) शास्त्रों का अर्थ करने की पद्धति जानना चाहिये।

इन विषयों में से पहले विषय के संबंध में अधिक स्पष्टता की आवश्यकता है, यह मैं बता चुका हूँ। मैंने इस संबंध में बहुत कुछ विचार किया है, फिर भी आपके साथ चर्चा हो तो अधिक स्पष्टीकरण हो सकता है। यदि आप सम्मत हों तो हम इस विषय पर आगे चर्चा करें।

धर्मचंद—आपको इस संबंध में विशेष रुचि है, इसलिये आपको जो भी पूछना हो, वह खुशी से पूछिये।

कर्मचंद—हमें अन्न-जल सब प्राप्त है, फिर भी भोग्य शक्ति होने पर भी यदि उसे छोड़ दें तो वह स्ववश से छोड़ा हुआ क्यों न कहलायेगा?

धर्मचंद—आप यह कहना चाहते हैं कि हम आहार लेना चाहते हैं और उसमें यदि कोई विघ्न डाले जिससे हम आहार न ले सकें तो वह परवश होकर आहार छोड़ा कहलायेगा। किन्तु आहार की अनुकूलता हो, और शरीर स्वस्थ हो, फिर भी यदि एक दिन के लिये आहार न लेने का नियम लें तो वह स्ववशपूर्वक आहार लिया नहीं कहलायेगा, क्या यह बात ठीक है?

कर्मचंद—हाँ! ठीक है, मेरे कहने का यही मतलब है। २४ घंटे तक आहार नहीं लेने का निश्चय किया हो, जैनधर्मधारी कुटुम्ब में जन्म लिया हो, धर्मस्थान में जाकर गुरु के पास नियम लिया हो तो वह उपवास किया गया कहलायेगा। इसी को लोग तप और निर्जरा कहते हैं।

लोग बहुत उपवास करनेवाले को तपस्वी कहते हैं। बहुत से लोग यह मानते हैं कि यह सब स्ववश से होता है, इसलिये उसके द्वारा निर्जरा होती है।

मैंने इस संबंध में कोई विशेष विचार नहीं किया, अब इस संबंध में मनन करके निर्णय करना चाहता हूँ इसलिये 'स्ववश' किसे कहेंगे ? यह आप बताइये।

धर्मचंद—देखो भाई! जैसा कि आप कह रहे हैं वैसे उपवास और नियम तो प्रत्येक संप्रदाय में होते हैं, किन्तु उनके निर्जरा नहीं होती, यह आप पहले कह रहे थे। किन्तु वैसे ही उपवास करने से केवल जैन धर्मी कुटुम्ब में जन्म लेने के कारण निर्जरा होती है, यदि यों माना जायगा तो यह न्याय विरुद्ध कहा जायगा।

कर्मचंद—यह बात तो ठीक है, मैं भी मानता हूँ कि ऐसी मान्यता न्याय विरुद्ध है। इसलिये आप सत्य स्वरूप बताइये।

धर्मचंद—देखो भाई, 'स्ववश' शब्द स्व+वश से बना हुआ है। 'स्व' का अर्थ स्वयं है और स्वयं यह आत्मा है; इसलिये जो पहले आत्मा को पहचानेगा, वही अपने वशवर्ती होगा। इससे यह सिद्ध हुआ कि आत्मज्ञानी के ही सम्यक्तप हो सकता है। जो न आत्मा को पहचानता है और न उसे पहचानने का प्रयत्न करता है, उसके सम्यक् उपवास या तप कैसे हो सकता है ?

यहाँ पर यह कहने का तात्पर्य नहीं है कि जो आत्मा को नहीं पहचानते, उन्हें मंद कषाय के हेतु उपवास नहीं करना चाहिये। तीव्र कषाय के स्थान पर मंद कषाय का होना तो अल्प विकार है, इसलिये उसका निषेध कर के तीव्र कषाय करो और गृद्धिपना बढ़ाओ, यह कहने का तो तात्पर्य हो ही नहीं सकता। यहाँ तो मंद कषाय के भाव को धर्म नहीं मानना अर्थात् विपरीत अभिप्राय को-विपरीत मान्यता को बदलकर सच्ची मान्यता करने के लिये यह कहा जाता है।

कर्मचंद—शुभभाव को छोड़कर पाप भाव करना अथवा गृद्धिपना बढ़ाकर आहार में लीन होकर अशुभ में प्रवृत्ति करने की बात तो आप कह ही कैसे सकते हैं ? आप जो कहेंगे उस पर मैं सूक्ष्मता से मनन करूँगा, यह मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ। और आप जो यह कहते हैं कि मैं कहता हूँ उसे सत्य मानना चाहिये तो यह तो गुलामी दशा कहलायेगी और मैं तो स्वतंत्रता का उपासक हूँ, इसलिये आपकी बात की भलीभाँति तुलना करके-परीक्षा करके यदि वह सत्य मालूम हुई तो ही मैं उसे ग्रहण करूँगा। नहीं तो फिर से पूछूँगा। मैं वैज्ञानिक रीति से धर्मदृष्टि का अभ्यासी होना चाहता हूँ।

धर्मचंद—आपकी जिज्ञासा की मैं अनुमोदना करता हूँ। संसारी कार्य भी बिना परीक्षा के नहीं किये जाते, तो फिर धर्म के सिद्धांतों को तो बिना तुलना किये ही ग्रहण कर लिया जाय तो

इसमें बुद्धिमानी नहीं है। किन्तु यह भगवान की आज्ञा के विरुद्ध है। अब हम जब फिर मिलेंगे, तब चर्चा करेंगे।

(दोनों मित्र अपने-अपने स्थान को चले गये)

प्रकरण दूसरा

(दोनों मित्र पुनः मिलतेम हैं)

कर्मचंद—अब हम अपने विषय को और आगे बढ़ायें।

धर्मचंद—हाँ, मैंने आपको पहले 'स्ववश' शब्द का अर्थ बताया था और कहा था कि उसका अर्थ अपने आत्मा के वश होना है। जो जीव, आत्मा को ही न पहचाने वह 'स्ववश' हो ही कहाँ से सकता है? यह तो स्पष्ट है कि जो अपनी आत्मा को नहीं पहचानता, वह मिथ्याभाव के वशीभूत है। उसे तत्त्व की यथार्थ खबर नहीं है, इसलिये उसे आत्मस्वरूप के संबंध में मिथ्या मान्यता होती है, इसलिये उसका कोई भी कार्य स्ववश हो ही नहीं सकता। उसका प्रत्येक कार्य मिथ्याभाव के आधीन होने से परवश है। विपरीत मान्यता के वशीभूत होना ही सबसे बड़ी परवशता है। जब तक यह स्वरूप नहीं समझा जाता, तबतक यह परवशता नहीं मिट सकती और इसलिये सम्यक् उपवास या तप नहीं हो सकता।

कर्मचंद—तब तो प्रश्न यह होता है कि जो आदमी आत्मा का यथार्थ स्वरूप नहीं जानता यदि वह उपवास करे तो उसका क्या फल होगा?

धर्मचंद—फल का आधार आत्मपरिणाम पर निर्भर है, इसलिये यदि उपवास करने में मंद कषाय हो-शुभभाव हो तो पुण्यबंध होगा और यदि अशुभभाव हो तो पापबंध होगा। किन्तु यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिये कि पुण्य और पाप का जो भेद किया गया है, वह बाह्य संयोगों को लेकर है। किन्तु आत्मा का निज गुण-दर्शन, ज्ञान, चारित्र (अर्थात् सच्ची मान्यता, सच्चा ज्ञान, सत्य स्थिरता) का शुभ और अशुभ दोनों भावों में घात होता है।

कर्मचंद—क्या उपवास करने में अशुभभाव भी होता है।

धर्मचंद—हाँ! किसी के हो भी सकता है। जैसे किसी आदमी को यह खबर मिली के उपवास करने वालों को लान (भेंट) बटनेवाली है, यह जानकर उसने विचार किया कि यदि मैं उपवास करूंगा तो मुझे लान (भेंट) मिलेगी और मैं धर्मात्मा भी कहलाऊँगा। अब आप ही कहिये कि इस प्रकार के भाव से उपवास करने वाले के अशुभभाव है या नहीं?

कर्मचंद—ठीक है, क्योंकि उसने उपवास धर्म के लिये नहीं किन्तु परिग्रह और मान बढ़ाई के लिये किया है; इसलिये यह अशुभभाव है। अब यहाँ पर प्रश्न यह होता है कि उसने

एक दिन उपवास किया-आहार ग्रहण नहीं किया तो उसका क्या फल होगा?

धर्मचंद—आहार तो परवस्तु है। परवस्तु के संयोग अथवा वियोग से धर्म, अधर्म या लाभ-हानि कुछ भी नहीं होता। लाभ और हानि तो आत्म परिणामों से होती है।

कर्मचंद—भगवान ने श्रावक के लिये दान, शील, तप और भाव यह चार आवश्यक क्रियायें कही हैं तो उनका क्या होगा?

धर्मचंद—भगवान ने श्रावक किसे कहा है, क्या आप यह जानते हैं?

कर्मचंद—मैंने इस संबंध में अभी तक कोई निर्णय नहीं किया। किन्तु दूसरों से सुना है कि हमने जैन कुल में जन्म लिया है, हम भगवान महावीर को मानते हैं, हम जैनसंघ में हैं और भगवान ने जो कहा है, वह सत्य है, यह तो मानते हैं; इसलिये हम श्रावक तो हैं ही।

धर्मचंद—जो आपने सुना है, मैंने भी छुटपन में कुछ वैसा ही उपदेशकों से सुना था, किन्तु जब मैंने सूक्ष्म आत्मज्ञानी उपदेशक का उपदेश सुना तो मुझे मालूम हुआ कि उक्त मान्यता में बहुत बड़ी भूल है। जैसा कि आपने कहा है, उन लोगों को श्रावक कहा जाता है किन्तु वीतराग ने कहा है कि श्रावक वही कहलाता है, जिसे अपनी आत्मा के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो चुका है और जो गृहस्थ अवस्था में भी समझपूर्वक परावलम्बन के भाव को आंशिकरूप में यथाशक्ति छोड़ता है। दूसरे को "नाम श्रावक" कहने में हमें कोई आपत्ति नहीं।

कर्मचंद—किन्तु जैन कुटुम्ब में जन्म हुआ, इसलिये उसका भी तो कोई महत्त्व है।

धर्मचंद—कुटुम्ब का धर्म के साथ कोई संबंध नहीं है। कुटुम्ब तो परवस्तुओं का संयोग है और धर्म आत्मा का स्वभाव है।

कर्मचंद—किन्तु जो भगवान महावीर को मानते हैं और उनके कथन को सत्य मानते हैं, उसका भी तो कोई महत्त्व है?

धर्मचंद—भगवान महावीर को आप नाम से मानते हैं या गुण से? यदि आप गुण से मानते हैं तो बताइये कि उनके सम्यग्दर्शन गुण कैसे प्रगट हुआ था?

कर्मचंद—यह तो मैं नहीं जानता, किन्तु इतना जानता हूँ कि उन्हें केवलज्ञान था।

धर्मचंद—यदि आप केवलज्ञान का यथार्थ स्वरूप जानते हैं तो उसे संक्षेप में कहिये।

कर्मचंद—मैं तो यह नहीं जानता। सब लोग यह कहते हैं कि भगवान केवलज्ञानी थे; इसलिये मैं भी कहता हूँ।

धर्मचंद—लोगों में से केवलज्ञान के स्वरूप को कितने जानते हैं? क्या आपने इसका निश्चय किया है? अथवा जैसा दूसरे लोग कहते हैं, वैसा आप भी कहते हैं।

कर्मचंद—मैंने इसका कोई निश्चय नहीं किया, विचार करने पर ऐसा लगता है कि स्वयं बिना निश्चय किये ही दूसरों के कथनानुसार कहने लगता और उसके अर्थ को न समझना एक प्रकार का दोष है। जैसा आप कह रहे हैं, उस प्रकार मैं न तो भगवान महावीर स्वामी के स्वरूप को जानता हूँ और न उनके कहे हुये धर्म के स्वरूप को समझता हूँ। जबतक कि उनके स्वरूप को नहीं जानता, तब तक उनका सच्चा अनुयायी नहीं कहा जा सकता।

आज हमने अच्छी चर्चा की है। अब मुझे दूसरा काम है, इसलिये अब मैं जा रहा हूँ।

धर्मचंद—बहुत अच्छा! अब आप जब कहेंगे, तब हम फिर से मिलेंगे।

(दोनों अपने-अपने स्थान को जाते हैं।)

❖ ❖ ❖

किसका धर्म

आत्मा ज्ञानमूर्ति वस्तु है, शरीर से पृथक् तत्त्व है। शरीर और आत्मा दोनों एक साथ एक स्थान पर रहते हैं; इसलिये दोनों वस्तुऐं एक नहीं हो जाती। इन दोनों वस्तुओं के लक्षण भी अलग-अलग हैं। किसी का गुण किसी में नहीं जा सकता, आत्मा के ज्ञानादि गुण अथवा उसकी कोई भी अवस्था शरीर में नहीं जा सकती और शरीर के रूप, रस आदि कोई भी गुण अथवा उसकी अवस्था आत्मा में नहीं जा सकती; दोनों वस्तुऐं अनादि-अनंत और पृथक् हैं। इसलिये जिसे आत्मा का धर्म करना है, उसे पहले यह निश्चय कर लेना होगा कि आत्मा का धर्म; आत्मा के गुण आत्मा के आधार से रहते हैं। वे अन्य किसी विकार अथवा शरीरादिक के आधार पर नहीं रहते।

धर्म कहाँ है?

आत्मा स्वतंत्र वस्तु है। उसका धर्म कहो या गुण, वह आत्मा के ही आधार पर रहता है। रागादि के आधार पर आत्मा का धर्म नहीं है। धर्म अंतरंग से संबंध रखता है। दोनों वस्तुऐं भिन्न हैं, उसके गुण और पर्याय भी पृथक् ही होते हैं, इसलिये ज्ञानी जानता है कि मेरा धर्म पाँच इन्द्रियों अथवा पुण्य-पाप की वृत्तियों पर अवलंबित नहीं है; ऐसी श्रद्धा का नाम धर्म है और वही निर्जरा है और जिसे ऐसा भान नहीं है, उसे कभी भी आत्मा का गुण अथवा धर्म नहीं हो सकता।

आत्मधर्म आत्मा के आधार पर है।

आत्मा का स्वभाव ज्ञान अर्थात् जानना है। जानने का स्वभाव (धर्म) किसी अन्य पर अवलंबित नहीं है तथा जानने में जो दया आदिक अथवा हिंसादिक शुभ-अशुभ विकार हैं, वे आत्मा के आधार पर नहीं हैं। इस प्रकार के भान सहित ज्ञानी के क्षण-क्षण में पुण्य-पाप दूर होते हैं, वही निर्जरा है।

धर्म का स्वरूप

धर्म का स्वरूप अनादि काल से एक क्षण भर के लिये भी नहीं समझ पाया। धर्म अर्थात् आत्मा का गुण और गुण, गुणी के आधार से रहता है। कोई मन, वाणी या शरीरादिक परवस्तु के आधार से आत्मा को कोई गुण नहीं रहता। जिसे अपने धर्मस्वरूप के स्वभाव की प्रतीति नहीं है, वह पर के आधार से धर्म मानता है। मानों धर्म कहीं बाहर से प्रगट होता हो? ऐसा मानने वालों को अपने धर्म स्वभाव के प्रति विश्वास नहीं है।

❖ ❖ ❖

सत्य का ग्रहण और अज्ञान का त्याग
यही सर्वप्रथम धर्म है

[परमपूज्य सद्गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन]

आत्मा अनादि-अनंत और सर्व पर से भिन्न वस्तु है। परमाणु भी भिन्न वस्तु है। एक भिन्न वस्तु का धर्म किसी परवस्तु के आधार पर अवलम्बित नहीं होता। आत्मा के ज्ञान-दर्शन इत्यादिक गुण आत्मा में ही हैं; किन्तु उनकी खबर नहीं है—प्रतीति नहीं है; इसलिये यह उन्हें पर में मान बैठा है; यही संसार है। और आत्मा अखंड ज्ञानमूर्ति है, उसके आधार पर जो पुण्य-पाप की पकड़ और ममता का त्याग है, उसी का नाम धर्म है।

आत्मधर्म पराधीन नहीं है

शरीर, मन, वाणी और चक्षु आदिक पाँच इन्द्रियां, सब आत्मा से पर हैं। वह ठीक रहें या न रहें, उन पर आत्मा का धर्म अवलंबित नहीं हैं। शरीर अच्छा होगा तो धर्म होगा और पाँच

इन्द्रियाँ ठीक होंगी तो इस धर्म में सहायक होंगी, इस प्रकार जो पर के आधीन से आत्मधर्म को मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है। रसना इन्द्रिय अच्छी होगी तो भगवान के गुण भी भलीभाँति गाये जा सकेंगे, इस प्रकार की जड़बुद्धि ज्ञानी के नहीं होती। रसना (जीभ) तो परमाणुओं का एक पिंड है। आत्मधर्म उस पर अवलंबित नहीं है। कदाचित् जीभ रुक जाय तो भी धर्म नहीं रुकता। शरीर युवा हो अथवा वृद्ध, धर्मी जीव उसके आधार से धर्म नहीं मानता। 'शरीर वृद्ध हो गया है, शरीर को लकवा मार गया है, अब मुझसे धर्म कैसे हो सकेगा?' यों अज्ञानी जीव मानते हैं और वह मिथ्या मान्यता है। अरे! शरीर चाहे जैसा रहे, उससे तुझे क्या? तू तो जाननेवाला है, तू अपने में लीन रह न! शरीर के प्रति जो राग है, उसे नाश करके दूसरी ओर अपने अंतर में शुद्ध स्वभाव को जान। इसी का नाम धर्म है।

आत्मा स्वयं धर्मस्वरूप है

जिसे इस प्रकार के आत्मस्वरूप की खबर नहीं हैं, वह पुण्य-पाप, शरीर और इन्द्रिय आदिक पर के आधार से धर्म मानता है। किन्तु परद्रव्य, आत्मा के आधार से नहीं है और न आत्मा का धर्म, परद्रव्य के आधार से है। धर्मस्वरूप भगवान तो भीतर ही बैठा है, उसे पहचाने बिना धर्म कहाँ हो सकता है? आत्मा को पहिचाने बिना पर के आधार से धर्म को मानता है, किन्तु यह नहीं विचारता कि आत्मा का धर्म आत्मा में है या पर में?

धर्म कैसे होता है?

सर्वज्ञ भगवान ने कहा है कि तेरा जो यह संपूर्ण स्वभाव है, उसे तू समझ। यों कहने से भगवान कहीं तुझे धर्म दे नहीं देते हैं किन्तु पुण्य-पाप रहित ज्ञानस्वभाव को समझकर ज्ञानगुण में स्थिर होना और पर की ओर न दौड़ना, सो यही धर्म है। राग-द्वेष रहित स्वभाव को पहिचानकर उस स्वरूप में स्थिर होना और राग-द्वेष न होने देना, सो धर्म है। आत्मा का धर्म आत्मा में ही है।

धर्मी (ज्ञानी) की मान्यता

शरीरादिक परद्रव्य के आधार से धर्मी (ज्ञानी) जीव शोभा नहीं मानता क्योंकि वह जानता है कि 'अंतर की शोभा अंतर में है और संध्या के रंग की तरह जो यह पौद्गलिक खेल हैं, वे सब पूर्वकृत पुण्य-पाप के कारण हैं और वे क्षणिक हैं। उनके आधार पर मेरा धर्म अवलंबित नहीं है।' (ऊपर जो शरीरादि कहा है, उसमें पुण्य राग-द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ कर्म-नोकर्म, मन, वचन, काय, स्पर्शन, रसना घ्राण, चक्षु, श्रोत्र तथा अन्न-जल आदिक सभी का समावेश है)।

अब कहते हैं कि ज्ञानी के आहार का भी परिग्रह नहीं है:—

(गुजराती हरिगीत)

अनिच्छक कह्यो अपरिग्रही, ज्ञानी न इच्छे अशनने।
तेथी न परिग्रही अशननो ते अशननो ज्ञायक रहे॥

शब्दार्थ—अनिच्छक को अपरिग्रही कहा गया है। और ज्ञानी अशन की (भोजन की) इच्छा नहीं करता, इसलिये वह अशन का परिग्रही नहीं है, ज्ञायक ही है।

टीका—इच्छा परिग्रह है, जिसके इच्छा नहीं है, उसके परिग्रह नहीं है। आहार की इच्छा अज्ञानमय भाव हैं। अर्थात् सदा आहार करते रहने की इच्छा का जो भाव है, सो वह अज्ञानमय भाव है। वह आत्मस्वभाव की हत्या करनेवाला अधर्म भाव है।

प्रश्न—तब तो आहार न करने से धर्म होगा न?

उत्तर—आत्मा ज्ञानमूर्ति स्वरूप है, उसे पहिचाने बिना कभी धर्म नहीं होगा।

धर्मी का लक्षण

धर्मी वह है, जिसे आहार की भावना नहीं होती। धर्मी जीव के आहार तो होता है किन्तु उसके ऐसी भावना नहीं होती कि मैं सदा आहार किया करूँ और मेरा शरीर सदा बना रहे। यदि ऐसी भावना हो तो वह अधर्मी है, क्योंकि उसमें यह जड़ की भावना है कि मेरा शरीर बना रहे, ज्ञानी के जड़ की भावना नहीं होती। आत्मा ज्ञानमूर्ति अशरीरी सिद्धसमान है, उसी की भावना (धर्मी के) होती है।

मुनि के आहार होता है, फिर भी उनके आहार की भावना नहीं होती। वे जानते हैं कि इच्छा या आहार मेरा स्वरूप नहीं है। लड्डू वगैरह में अज्ञानी स्वाद मानता है किन्तु जो परमाणु अभी लड्डू रूप में हैं, वही चार-छह घण्टे बाद विष्टा के रूप में हो जाएँगे, तब फिर उनके स्वाद कहाँ है? अज्ञानी उसकी मिठास में (राग में) अपने स्वभाव को भूल जाता है; परन्तु ज्ञानी तो आहार का केवल ज्ञायक ही होता है।

धर्मी के आहार कैसा होता है?

प्रश्न—आहार तो धर्मात्मा मुनि भी करते हैं किन्तु वह बिना इच्छा के कैसे करते हैं और इच्छा को तो आप अधर्म कहते हैं, उसका क्या?

उत्तर—धर्मात्मा के असातावेदनीय के उदय से जठराग्निरूप क्षुधा मालूम होती है (उसका असर जठर में - परमाणुओं में होता है, आत्मा तो उसका ज्ञायक रहता है) और वीर्यान्तराय के उदय से वह वेदना सही नहीं जा सकती (केवली के बिना आहार के चलता है किन्तु यहाँ भी अभी निम्नावस्था है, पूर्णता प्रगट नहीं हुई है और शरीर टिकनेवाला है, इसलिए

वहाँ आहार है); इसलिए चारित्रमोहनीय के उदय से अपने पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण चारित्र में अस्थिरता है, इसलिए वहाँ आहार की वृत्ति आ जाती है।

किन्तु वह धर्मात्मा अन्तरङ्ग में जानता है कि इस आहार की इच्छा मेरा स्वरूप नहीं है। मैं ज्ञानमूर्ति चिदानन्दस्वरूप की भावना भाऊँ या आहार की? यह इच्छा तो रोग है, यह समझकर धर्मी तो उसे मिटाना ही चाहता है?

भूख क्या है?

क्या कभी इसकी जाँच की है कि भूख क्या है? क्या आत्मा को भूख लगती होगी? भूख तो शरीर में है, वह शरीर की एक अवस्था है। आत्मा के न तो क्षुधा ही होती है और न आहार ही।

ज्ञानी की भावना

धर्मी इच्छा की इच्छा नहीं करता और जो इच्छा की इच्छा करता है, वह धर्मी नहीं है। धर्मी के तो आत्मा के गुण की ही भावना होती है, फिर भी उसके इच्छा तो होती है किन्तु उस इच्छा की इच्छा (अर्थात् यह इच्छा सदा बनी रहे ऐसी भावना) ज्ञानी के नहीं होती। इच्छा की भावनावाला धर्मी नहीं होता। धर्मी के तो क्षण-क्षण में इच्छा के नाश की ही भावना होती है। क्योंकि इच्छा आत्मा के गुण की विपरीतदशा है। धर्म का अर्थ है आत्मा का स्वतन्त्र स्वभाव। ज्ञानी उसी की भावना भाया करता है कि मेरा ज्ञानस्वरूप सदा मुझमें ही रहे। ज्ञानस्वभाव के अतिरिक्त दूसरी कोई भी इच्छा या विकल्प मेरा स्वरूप नहीं है; इस प्रकार ज्ञानी के इच्छा के नाश की ही भावना होती है।

स्वभाव की रुचि के बिना राग की रुचि दूर नहीं होती

इच्छा राग है और राग विकार है। उस परद्रव्यजन्य विकारभाव का स्वामित्व ज्ञानी के नहीं है। जो राग का स्वामी होता है, वह धर्म का स्वामी नहीं होता और जो धर्मी है, वह राग का स्वामी नहीं होता। धर्म आत्मा का स्वभाव है, आत्मा का स्वभाव जानना है और वह जानने की क्रिया, रागरहित की क्रिया है। आत्मा सदा चैतन्य-ज्योति परिपूर्ण ज्ञानस्वभावी है, उसको पहिचाने बिना स्व की रुचि नहीं हो सकती और स्व की रुचि हुए बिना पर की रुचि दूर नहीं हो सकती। पर की रुचि के कारण लोगों के स्वभाव की भावना नहीं होती। ज्ञानी के यह भान होने पर भी कि कोई भी विकार मेरा स्वरूप नहीं है, यदि इच्छा हो जाती है तो वह कर्मजन्य है, पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण है, ज्ञानी के उसकी भावना नहीं है, वह तो मात्र उसका ज्ञाता है।

अनादि से धर्म को क्यों नही समझा ?

अज्ञान के कारण धर्म को समझना मुश्किल हो गया है। स्व क्या है, पर क्या है, पुण्य क्या है, पाप क्या है और पुण्य-पापरहित धर्म क्या है ? इसके विवेक के बिना धर्मस्वरूप का समझना मुश्किल हो गया है।

सम्यग्दृष्टि अपने स्वरूप को कैसा मानता है ?

ज्ञानी - सम्यक्त्वी जीव के भी आहार होता है, वह जानता है कि यह शरीर अभी टिकेगा और अभी पुरुषार्थ की कमजोरी है, इसलिए आहार की इच्छा होती है किन्तु वह शरीर के आधार से धर्म को नहीं मानता। उसने अन्तरङ्ग में तो इस प्रकार का नकार प्रवर्तमान रहता है कि यह नहीं रे यह नहीं! यह मेरा कर्तव्य नहीं है, मेरा स्वरूप तो जानना, देखना और अपने में स्थिर रहना है, उसमें यह कोई मेरा स्वरूप नहीं है।

अज्ञानी पर से धर्म मानता है

अज्ञानी मानता है कि अच्छा आहार करें और शरीर अच्छा रहे तो धर्म होगा, मानों धर्म पर के आधार ही निर्भर हो न ?

और फिर वह कहता है कि - "शरीर माद्यं खलु धर्म साधनम्" (किन्तु यह बात बिल्कुल गलत है)। आत्मा को उसने (इस मान्यता में) मार ही डाला है। उसने वस्तु की स्वतन्त्रता की हत्या कर डाली है।

प्रत्येक वस्तु स्वतन्त्र है

एक तत्त्व को दूसरे तत्त्व की सहायता तीन लोक और तीन काल में नहीं है। यदि एक तत्त्व को दूसरे तत्त्व से हानि या लाभ होने लगे तो दो तत्त्व एक हो जाए। इसलिए समझना चाहिए कि आत्मा का साधन आत्मा में ही है, किसी पर के आधीन नहीं है। विभिन्न तत्त्व एक दूसरे के लिए कुछ भी कर सकते हैं, यह न तो तीन लोक में कभी बना है, न बनता है और न बन सकेगा। वस्तु की ऐसी स्वतन्त्रता, आत्मतत्त्व की पहिचान और रुचि के बिना कभी भी धर्म नहीं हो सकता। ज्ञानी के पर का स्वामित्व नहीं है, उसके तो अपना (ज्ञान का) ही स्वामित्व है।

अब कहते हैं कि ज्ञानी के पानी का भी परिग्रह नहीं है। वह जानता है कि पानी से आत्मा को किसी प्रकार की सहायता नहीं मिलती। जो यह मानता है कि पानी से आत्मा को शान्ति मिलती है, उसे आत्मा के स्वतन्त्र स्वावलम्बी स्वभाव की खबर नहीं है।

(गुजराती हरिगीत)

अनिच्छक कह्यो अपरिग्रही ज्ञानी न इच्छे पानने।
तेथी न परिग्रहे पाननो ते पाननो ज्ञायक रहे॥२१३॥

प्यास कहाँ लगती होगी, क्या वह आत्मा में लगती होगी ? नहीं, तृषा शरीर में लगती है, आत्मा तो मात्र यह जानता है कि यह कण्ठ (जड़) सूख रहा है, मैं नहीं।

धर्मात्मा भी अशक्ति होने के कारण पानी पीता है किन्तु ज्ञानी अन्तरङ्ग में यह जानता है कि यह मेरा कर्तव्य नहीं है, इसलिए उसे पानी की या पानी के राग की रुचि नहीं है।

धर्म की व्याख्या

धर्म अर्थात् आत्मा का स्वभाव। स्वभाव = (स्व + भाव) निज से (आत्मा से) प्रगट होनेवाला भाव। जो परावलम्बन से प्रगट होता है, वह धर्म नहीं कहलाता। आत्मा ज्ञानस्वभावी वस्तु है, जानना ही उसका स्वभाव है। पुण्य-पाप की वृत्ति कर्माधीन क्षणिक विकारभाव है, उसे त्रिकाली अविकारी स्वरूप की रुचि में - ज्ञानी में रुचि नहीं है।

अब उपर्युक्त कथनानुसार अन्य भी अनेक प्रकार के परजन्य भावों की इच्छा नहीं करता, यह बताते हैं।

(गुजराती हरिगीत)

ये आदि विधविध भाव बहु ज्ञानी न इच्छे सर्वने।
सर्वत्र आलंबन रहित बस नियत ज्ञायक भाव ते॥२१३॥

क्रोध, मान इत्यादिक अनेक प्रकार के परभावों की और परवस्तु की, धर्मी (आत्मसुख को चाहनेवाला) इच्छा नहीं करता। धर्मी अन्तर की भावना को भावे या पर की।

ज्ञानियों की मान्यता

परन्तु धर्मी की दृष्टि में अवलम्बन नहीं है। मेरे आत्मा के गुण की पर की सहायता तीनलोक और तीनकाल में कभी भी नहीं है। निश्चय-नित, एकरूप ज्ञानस्वभावी हूँ, उसकी रुचि में ज्ञानी इच्छा भाव का अवलम्बन स्वीकार नहीं करते। वे जानते हैं कि इच्छा तो विकार है। विकार के आधार से अविकारी धर्म हो ही नहीं सकता। इस प्रकार चौथे गुणस्थान से लेकर सभी ज्ञानी मानते हैं।

देह की क्रिया स्वतन्त्र है, फिर भी कमजोरी के कारण जो राग होता है, उसकी भावना ज्ञानी के नहीं होती; किन्तु जब तक वीतरागता प्रगट नहीं होती, तब तक पुरुषार्थ की अशक्ति के कारण अल्पराग होता है। यदि सर्वथा राग नहीं हो तो वीतरागता प्रगट हो जाए।

ज्ञानी की दृष्टि

यह बात गले भले न उतरे, किन्तु वह ज्ञान में तो अवश्य ही उतरती है। गला जड़ है और ज्ञान आत्मा का स्वभाव है। इसलिए यदि कुछ विचार करे तो ज्ञान में तो यह बात उतरेगी ही न ?

अनन्तकाल में कभी एक क्षण भी इस बात का विचार नहीं किया। राग इत्यादिक परद्रव्य के लक्ष्य से होते हैं, इसलिए वह परद्रव्य का स्वभाव है। ज्ञानी उन समस्त भावों की इच्छा नहीं करता अथवा ज्ञानी को उसकी रुचि नहीं है। अन्तर दृष्टि में सबकी पकड़ छूट गई है। यह वस्तु मेरी है अथवा वह वस्तु मुझे सहायता कर देगी—ऐसी सब पर की पकड़ ज्ञानी की दृष्टि में से छूट चुकी है - उसके मात्र एक स्वभाव की ही पकड़ है।

ज्ञानी और अज्ञानी का लक्षण

ज्ञान सबको जानता है किन्तु पर का कुछ कर नहीं सकता। मेरा काम कोई नहीं कर सकता और न मैं किसी पर का कार्य कर सकता हूँ। इस प्रकार प्रथम नियम को—धर्म को जाननेवाला ज्ञानी, पर की पकड़ क्यों करेगा? अज्ञानी भी पर का कुछ नहीं कर सकता, मात्र वह ऐसा मानता है। ज्ञानी के वह मान्यता नहीं रही है। जहाँ आत्मा ज्ञानमूर्ति स्वतन्त्रस्वभावी वस्तु है, उसके जड़ की या विकार की कोई भी अवस्था मदद कर सकती है, ऐसी अज्ञानरूप मान्यता छूट चुकी है, वहाँ दृष्टि में सब प्रकार का अवलम्बन भी छूट गया है। अर्थात् ज्ञान होने से उसने पर से लाभ या हानि माननेरूप मिथ्याभाव का वमन कर डाला है। इस प्रकार धर्मी अत्यन्त निस्परिग्रही हो चुका है और उसके पर की भावना नहीं रही है।

धर्म का प्रारम्भ कब होता है?

यदि कोई यह कहे कि आत्मा बाहर से दिखाई दे तो मैं उसे मानूँगा। तब इसका अर्थ यह हुआ कि उसे पहले तो आत्मा की खबर नहीं है। ऐसी मान्यता मिथ्याभाव है कि शुभराग भी आत्मा के गुण के लिए सहायक हो सकता है। आत्मा का गुण आत्मा के ही आधीन है। कोई भी परवस्तु किसी भी गुण के प्रगट करने में सहायक नहीं हो सकती। यहाँ तक कि देव, गुरु, शास्त्र यह सब पर हैं, उनका अवलम्बन दृष्टि में से निकल जाने पर स्वतन्त्र आत्मगुण की पहिचान हो जाती है और अज्ञान दूर हो जाता है, यही पहला धर्म है। सत्य का आदर और अज्ञान का त्याग ही सर्वप्रथम धर्म है।

आत्मा के ज्ञानस्वभाव में कोई परवस्तु एकमेक नहीं हो गई है। राग-द्वेष भी त्रिकाल स्वभाव में नहीं है किन्तु वे परलक्ष्य से होने के कारण संयोगी विकारीभाव है। उस संयोग से असंयोगी आत्मा के लाभ होगा, ऐसी मिथ्या मान्यता के छूट जाने पर ऐसा अपूर्व धर्म प्रगट होता है, जैसा कभी अनन्तकाल में भी नहीं हुआ था।

विपरीत मान्यता ही संसार है

जिससे धर्म होता है, वह वस्तु भीतर ही विद्यमान है किन्तु इसकी दृष्टि वहाँ नहीं है और

परवस्तु पर इसकी दृष्टि गई है। मानों वह स्वयं तो कोई वस्तु है ही नहीं और मानो पर से धर्म हो ही जाता है, यह विपरीत मान्यता ही अनन्त संसार का कारण है। सत् समागम प्राप्त करके स्वयं निज को पहिचाने, तभी वह निमित्त कहलाता है किन्तु सत् समागम कुछ दे नहीं देता।

वह स्वयं ही अपने आप समझे कि ओहो! वस्तु ऐसी है। मैं स्वतन्त्र ज्ञानस्वभावी हूँ। उसमें किसी भी परवस्तु का अवलम्बन मानना, सो आत्मा के स्वतन्त्र गुण की हिसा है, यही अधर्म है और यही संसार है।

धर्म का उपाय

आत्मा के ज्ञानानन्दस्वरूप होने पर भी, वीतराग होने से पूर्व अवस्था में पुण्य-पाप के भाव होते अवश्य हैं किन्तु आत्मा के ज्ञानानन्दस्वभाव में उसकी मदद नहीं है; इस प्रकार की जो भावना है, सो वहीं अहिंसा है और वही आत्मा के उद्धार का / जन्म-मरण की समाप्ति का उपाय है। आत्मा के स्वभाव को जाने बिना बिचारा स्थिरता करे कहाँ? आत्मा का चारित्र आत्मा में ही है, किन्तु आत्मा ने उसे जान नहीं पाया और अज्ञान को दूर नहीं किया तो फिर चारित्र हो कहाँ से?

सर्वप्रथम आत्मा का गुण क्या है और अवगुण कहाँ होते हैं और उसका स्वभाव क्या है? यह सब जाने बिना धर्म नहीं होगा।

आत्मा स्वतन्त्र है

अहा! इस समयसार में भगवान कुन्दकुदाचार्यदेव ने सनातन सत्य को स्पष्ट प्रगट किया है कि - वस्तु स्वतन्त्र है, आत्मा चैतन्य ज्योतिस्वरूप है, उसकी पहिचान निज से ही होती है, उसमें पर की सहायता नहीं होती और जो विपरीत मान लिया है, वह किसी ने मनवाया नहीं है किन्तु अज्ञानभाव से स्वयं ही वैसा मान लिया था। सम्यक्ज्ञान के अवलम्बन से आत्मा के सिवाय किसी परवस्तु का अवलम्बन नहीं है, इस प्रकार यथार्थभाव से उस अज्ञान को स्वयं ही टाला जा सकता है और यही सम्यक्दर्शन का उपाय है। सम्यक्दर्शन के बिना व्रत, तप भी नहीं हो सकता।

धर्म की अपूर्वता

सम्यक्दर्शन के लिए सर्वप्रथम यह ज्ञान करना आवश्यक है कि आत्मा का स्वभाव क्या है, स्व क्या है, पर क्या है और निमित्त क्या है? वस्तु स्वभाव का यथार्थ भान होने पर अज्ञान का दूर हो जाना ही धर्म है। धर्म आत्मा की वस्तु है, फिर वह क्यों न समझ में आएगी? इसे समझ लेना ही अपूर्व और वर्तमान सच्चा पुरुषार्थ है। कोई बड़ा अधिकारी हो या बहुत बड़ा वेतन

पानेवाला हो, यह सब पूर्व पुण्य का फल है, उसमें किसी का वर्तमान सयान नहीं चलता और वह अपूर्व नहीं है। अपूर्व तो अनन्तकाल से नहीं किया गया आत्मवस्तु का भान करना ही है।

मनुष्यत्व का यही कर्तव्य

अरे, रे! आत्मा क्या वस्तु है, कहाँ मेरा धर्म होता है और कहाँ अधर्म होता है? इसका जहाँ भान नहीं है, वहाँ उद्धार का अवसर ही कहाँ? यह दुर्लभ मनुष्य देह मिली, उसमें भी यदि यह समझने की रुचि पैदा नहीं हुई कि आत्मा क्या वस्तु है? तो मरण समय किसकी शरण लेगा?

यह उपदेश अज्ञान दूर करने के लिए है

यह सब उनके लिए नहीं कहा गया है कि जो ज्ञानी हो चुके हैं किन्तु जिन्हें आत्मस्वभाव का भान नहीं है - धर्म की खबर नहीं है, उन अज्ञानियों को स्वरूप समझाने के लिए कहा गया है। यहाँ पर जो भगवान हो चुके हैं, उनकी बात नहीं है किन्तु जिन्हें भगवान होना है, उनकी ही यह बात है। सर्वप्रथम सम्यक्दर्शन प्रगट कराने की बात कही गई है।

समझ का फल

यथार्थ भान के द्वारा जहाँ स्वाबलम्बी स्वभाव को जाना, वहाँ पहले जो पर के आधार से गुण मानता था, उसने अनन्त संसार का मूल जो अज्ञान है, उसका वमन कर डाला है और जिसका वमन कर डाला गया है, उसका फिर से आदर-ग्रहण कैसे हो सकता है? अर्थात् फिर से अज्ञान नहीं आएगा। किन्तु अज्ञान का वमन किसके होता है? जिसके आत्मा में विकार मात्र सहायक नहीं है, इस प्रकार स्वभाव की बात बैठ गई है, उसके ही अज्ञान का वमन होता है। स्वभाव का भान होने के बाद सर्वत्र अत्यन्त निरालम्बी हो जाता है। मात्र निर्मलस्वभाव का ही अवलम्बन रहता है, इस प्रकार समस्त अन्यभावों के परिग्रह से शून्य होने के कारण जिसने समस्त अज्ञान का वमन कर डाला है। इस प्रकार जो सर्वत्र अत्यन्त निरावलम्ब होकर नियत टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव रहता है, वही साक्षात् विज्ञानघन आत्मा का अनुभव करता है।

मुक्त होने का उपाय

इस प्रकार मैं पूर्णस्वरूप, साक्षात् ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा हूँ—ऐसी प्रतीति और एकाग्रता का होना, सो धर्म है और वही अनन्तकाल से चले आये हुए जन्म-मरण दूर करने का उपाय है और एक दो भव में ही केवलज्ञान को प्रगट करके सिद्ध होने का यही उपाय है; इसके सिवाय मुक्ति का-धर्म का कोई दूसरा उपाय नहीं है। ●●●